विचार, समाज और साहित्य

प्रफुल्ल कोलख्यान

खाने की मेज पर
बच्चों की नहीं
लकड़बग्घे की हँसी है ......
सुनो ....
यह दहश्त तो है
लेकिन चुनौती भी
लकड़बग्घा हँस रहा है ....
- चंद्रकांत देवताले

आज का हमारा समय पुनर्विचार का समय है। सीखे हुए को भूलने और भूलकर फिर नये सिरे से सीखने का समय है। अपने समय में आधुनिकता का भी प्रारंभ यहीं से हुआ था। आधुनिकता अपने समय के महत्त्वपूर्ण सवालों और उनके उपलब्ध जवाबों की वैधता को चुनौती देते हुए विचार के नवाकाश पर कुछ नये और

तेजोदीप्त सवालों की पूरी विकलता के साथ प्रकट हुई थी। कुछ, ऐसे ही जोरदार आग्रह और आवेग उत्तर-आधुनिकता में भी हैं। जो औजार अधुनिकता अपनाती रही है लगभग वही औजार भिन्न तेवर और उद्देश्य के साथ आज उत्तर-आधुनिकता भी अपना रही है या अपनाना चाह रही है। तेवर और उद्देश्य की भिन्नता के कारण इनके आत्मचरित और बरताव में भी महत्त्वपूर्ण तात्त्विक अंतर है। भारतीयता और हिंदी सामाजिकता के हितों और प्रयोजनों के संदर्भ में आधुनिकता पर गंभीरता से विचार नहीं हुआ। औपनिवेशिक दबावों के कारण बनी मन:स्थिति में शायद यह संभव भी नहीं था। आज भी सचाई यही है कि हमारे परिप्रेक्ष्य अंतत: दूसरों के द्वारा ही तय किये जा रहे हैं। ऐसे में भारतीयता और हिंदी सामाजिकता के हितों और प्रयोजनों के संदर्भ में उत्तर-आधुनिकता पर भी जरूरी विमर्श नहीं हो पा रहा है।

दर्शन और साहित्य के बीच प्रारंभ से ही निकट का संबंध रहा है। विचार दोनों के उपजीव्य रहे हैं। दोनों एक-दूसरे के लिए कई बार प्रमाण एवं उदाहरण भी बनते रहे हैं। फिर भी दोनों के विचार और मूल सरोकार तथा उत्कर्ष और निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण ढंग से भिन्न रहे हैं। स्वाभाविक है कि दोनों में से कोई किसी का एवजी कभी नहीं बना। एक सहज जिज्ञासा मन में यह उठती है कि आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के विमर्श के जातीय प्रसंग पर हमारे समय के अपने जातीय दार्शनिकों के विचार क्या हैं? हम ऐसे प्रश्नों के जातीय संदर्भों को सिर्फ साहित्यिक विमर्शों में ही जान पाते हैं। इसके खतरे भी हैं। कुछ विचारक जिन्हें हम उनकी तमाम भाव-भंगिमाओं और उछल-कूद के बावजूद साहित्यिक ही समझते हैं उनके खुद का दावा दार्शनिक होने का प्रतीत होता है और क्या पता वे हों भी! संक्षेप, में यहाँ हमारा आशय सिर्फ इतना ही है कि आधुनिकता से हमें क्या हासिल हुआ या होना है और उत्तर-आधुनिकता क्या है, इन सवालों पर विचार करने तथा उसे परखने के लिए हमारे पास जो औजार हैं वे मूलत: साहित्य के ही हैं।

प्राचीन, मध्य और आधुनिक-काल सिर्फ काल को इंगित करनेवाले शब्द कभी नहीं रहे। इनका अपना एक सुनिश्चित, सुपरिभाषित, घटनात्मक और गत्यात्मक अर्थ रहा है। यद्यपि दर्शन, साहित्य और इतिहास में इनके अपने भिन्न अर्थ रहे हैं तथापि उनका मूल स्वर और स्व-अर्थ अपने चरित्र में एक-सा भी रहा है। खुद काल के संदर्भ में विचार करें तो इस मान्यता से सहमत हुआ जा सकता है कि वस्तुओं का क्रम एवं संस्थापन जिस आयाम में होता है उसे देश कहते हैं और घटनाओं का क्रम जिस आयाम में व्यवस्थित होता है वह काल कहलाता है। वस्तु और घटना एक दूसरे से जुड़े होते हैं, इसलिए देश और काल भी एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। प्रकृति की कई घटनाएँ मनुष्य के बिना किसी हस्तक्षेप के भी अपनी स्वचालित शृंखला में प्रकट होती रहती हैं। इसे प्राकृतिक समय कहा जा सकता है। मनुष्य के हस्तक्षेप और उद्यम से जो घटनाएँ आकार पाती हैं उनके क्रम को मानवीय समय कहा जा सकता है। मनुष्य के हस्तक्षेप और उद्यम के पीछे मनुष्य की अपनी परिस्थिति और प्रवृत्ति

सक्रिय रहती है। मनुष्य की परिस्थिति और प्रवृत्ति के गठन में अनेक कारक सक्रिय होते हैं। उन में से एक कारक समाज होता है। यहाँ मनुष्य मात्र की एकता के अंतर्गत उसके विभिन्न समाजों के होने के मतलब को भी ध्यान में रखा जा सकता है। प्रत्येक समाज और उस के सदस्य का समय एक नहीं होता है। अर्थात, एक ही प्रकृति-समय के अंतर्गत विश्व मानव-समय की सापेक्षता में किसी भी समाज और उसके सदस्य का अपना समय एक ही नहीं भी हो सकता है। साहित्य का संबंध सर्वप्रथम अपनी भाषा और समाज से होता है। इसलिए साहित्य का समय भी प्रथमत: सामान्य सामाजिक-समय ही होना चाहिए, और होता भी है। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि किसी समाज के प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल के अर्थ की गत्यात्मकता उसकी अपनी सामाजिक गत्यात्मकता से नाभिनालबद्ध होता है। बहरहाल, आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के संदर्भों को यहाँ भारतीयता के परिप्रेक्ष्य और हिंदी साहित्य और समाज के प्रसंग में समझने का प्रयास किया गया है।

प्राचीन काल में मुख्य शक्ति-स्रोत के रूप में प्रकृति की सहज स्वीकृति थी। मनुष्य उसके सामने निरीह और लाचार था। उसे संचालित करनेवाला भाव रहस्य और भय से आवृत्त रहता था। इस रहस्य और भय से मुक्ति के लिए मनुष्य प्रकृति को दैवीय और दैवीय को मानवीय रूप में परिकल्पित कर आत्मविस्तार करते हुए अपने लिए शक्ति, संतोष, शांति और सुरक्षा सुनिश्चित करता था। मुख्य सामाजिक प्रवृत्ति सामूहिकता थी। इसी के बल पर मनुष्य अपनी आजीविका के लिए जीवन-संघर्ष करता था एवं प्राकृतिक असहनीयताओं और अन्य विपदाओं का सफलतापूर्वक मुकाबला करता था। आर्थिक गतिविधि का मूल आशय जीवन-रक्षा था। मोक्ष की आकांक्षा से भोग नियंत्रित था। मध्यकाल में प्रकृति पृष्ठभूमि में चली गई। दैव प्रतीक रूप में स्थापित हुआ और उसका मानवीकृत रूप ईश्वर तथा उसका अवतार मुख्य शक्ति-केंद्र के रूप में स्वीकृत हुआ। शीघ्र ही भौतिक और जागतिक क्रियाकलापों के लिए ईश्वर के स्थान पर उसका प्रतिनिधि अर्थात् राजा शक्ति के नए केंद्र के रूप में अधिष्ठित हुआ। यद्यपि नैतिक प्रपत्ति के आधार में धर्मग्रंथ के विधि-निषेध आस्था के बल पर सक्रिय रहे, तथापि प्रकारांतर से ईश्वर के प्रति समर्पण और भक्ति का मुख्य भाव राजा के प्रति वफादारी में बदलने लगा। नियंता-प्रवृत्ति का मुख्य आधार सामंती नीतियाँ बनीं। कृषि और कुटीर उत्पाद का व्यापार आर्थिक गतिविधि के मुख्य आधार बने। मोक्ष की चिंता से मुक्त भोग की स्वीकार्यता बढ़ी। आधुनिक काल में शक्ति का मुख्य आधार विज्ञान और औद्योगिक उत्पादन बने। सामंती शक्ति द्वारा विनिर्मित सामाजिक जकड़न और जड़ता के कारण मनुष्य में ईश्वर और राजा दोनों से मुक्ति की छटपटाहट पैदा होने लगी। इस छटपटाहट से सामाजिक गतिशीलता के वेगवर्द्धन में तीव्रता आने लगी। नये नायक की स्वीकृति और श्रम एवं मजदूर की प्रतिष्ठा की आकांक्षा के रूप में यह छटपटाहट प्रकट होने लगी। समानता, स्वतंत्रता और भाईचारा के लिए संघर्ष हुआ, कहीं राजनीतिक कार्रवाई के स्तर पर और कहीं मात्र जनाकांक्षा के स्तर पर। राष्ट्रीय जनतंत्र, पूँजीवाद और सामाजिक व्यक्तिवाद मुख्य प्रवृत्ति के रूप में उभरे। यहाँ एक बात स्पष्ट दीखती है कि उत्पादन और भोग के अवसरों के संदर्भ से काल का गहरा संबंध है। उत्पादन की शैली और वितरण की

व्यवस्था से काल के संदर्भ में प्रवृत्यात्मक और गत्यात्मक अंतर घटित होता है। आस्था और विश्वास विचार परिसर के प्रमुख लक्षण थे।

शक और संदेह आधुनिकता के प्रमुख प्रस्थान बिंदु रहे हैं। सामान्यत: देकार्त आदि के विचार से आधुनिक दर्शन से की शुरूआत मानी जाती है। लेकिन एक जीवन-दृष्टि के रूप में आधुनिकता की सामाजिक शुरुआत को ध्यान में रखें तो हम इस बात से सहमत हो सकते कि आधुनिकता के मूल में मुख्यत: तीन बड़े चिंतकों डॉर्विन, फ्रॉयड और मार्क्स का योगदान रहा है। मोटे तौर पर इन तीन चिंतकों के चिंतन में निहित शक और संदेह के विविध आयामों से आधुनिकता का जो भावबोध विनिर्मित होता है, उसी के संदर्भ में हम आधुनिकता के अंतर्विरोधों और उत्तर-आधुनिकता के प्रस्थान को भी पहचान सकते हैं। इन तीन आयामों का स्मरण कर लेना जरूरी लगता है।

डॉर्विन ने अपने सिद्धांत सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट से इस धारणा को ध्वस्त कर दिया कि मनुष्य पहले के किसी विकसित संवर्ग का अधोमुखी या प्रतिगामी सदस्य है। सिर्फ प्राकृतिक नियमों की अनुकूलता में जैविक विकास एवं सामाजिक गत्यात्मकता का आधार प्राण-रक्षा के लिए जैविक संघर्ष को ही डॉर्विन महत्त्व प्रदान कर सके थे। डॉर्विन के विकासवाद की अन्य बहुत सारी बातों को लेकर आधुनिक विचारकों के बीच भले ही गहरे मतभेद रहे हों, लेकिन उनके इस निष्कर्ष पर आम बौद्धिक-सहमति तो बन ही गई कि मनुष्य निम्नतर श्रेणी से धीरे-धीरे विकसित होकर आज की उच्चतर श्रेणी तक पहुँचा है।

फ्रॉयड के अनुसार सामाजिक गत्यात्मकता का मुख्य आधार काम है। उनके अनुसार मनुष्य मानसिक नियमों से ही संचालित और निर्बाध भोग-वृत्ति से ही परिचालित होता है। काम और भोग को यौनमूलकता में सीमित माना गया। भोग से वंचित रह जाने पर दमित काम मन के अवचेतन-अचेतन में सक्रिय रहता है।

मार्क्स सामाजिक गत्यात्मकता का मुख्य आधार पूँजी को मानते थे। वे राज्य के संदर्भ में सामाजिकता और समाजवाद के महत्त्व को रेखांकित करते थे। समाजवाद में श्रम की गरिमा और समाज की आवयविक इकाई के रूप में व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार किया गया। इसके अंतर्गत समाज को प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार प्राप्त करने और उसकी जरूरत के अनुसार उसे देने का सिद्धांत स्वीकार्य होता है। सामाजिक गत्यात्मकता का आधार मनुष्य के अंतर्मन में निहित समता की आकांक्षा को माना जाता है। पूँजी के संचलन को ही मनुष्य की चित्तवृत्ति का मुख्य नियामक माना जाता है। पूँजी के संचलन की जटिलताओं से ही मानवीय स्थितियों को व्याख्यायित किया जा सकता है। इसके लिए किसी ईश्वरीय सत्ता की अनिवार्यता नहीं स्वीकारी जाती। मनुष्य अपना नियंता स्वयं है।

मार्क्सवाद को आधुनिकता स्वीकार्य है, लेकिन डॉर्विन और फ्रॉयड के सिद्धांतों में अंतर्निहित कुछ मान्यताओं को वियोजित कर। नतीजा यह कि मनुष्य के जिस अंतर्मन में समता की आकांक्षा रहती है उस अंतर्मन की संरचना की मौलिक विशिष्टताओं और अभिलाक्षणिकताओं को अपने सामाजिक सिद्धांत में ठीक से समायोजित एवं समन्वित न कर पाने के कारण मार्क्सवाद में मानवीय पहलुओं का समुचित समावेश अधूरा ही रह गया। राजनीतिक सैद्धांतिकता और सामाजिक व्यवहार्यता के कारण मार्क्सवाद अधिक प्रासंगिक सामाजिक विचारधारा के रूप में विकसित होता गया। उत्तर-आधुनिकता को आधुनिकता स्वीकार्य है, लेकिन वह आधुनिकता जो अपने अंतःकरण में मार्क्सवाद से वियोजित हो। मार्क्सवाद से वियोजित आधुनिकता विकलांग हो कर अंतत: पूर्व-आधुनिकता की ओर ही उन्मुख होती है। पूर्व और उत्तर के बीच के ईशान कोण में ही आधुनिक अंत:करण का विवेक विरमता है। उत्तर-आधुनिकता पूर्व और उत्तर के बीच संतुलन के इस दृष्टिकोण के प्रसार-क्षेत्र को संकुचित कर जीवन से विवेक को ही विच्युत करने का षड़यंत्र रचता है। इस तरह, आधुनिकता को विच्युत करने के नाम पर दरअसल उत्तर-आधुनिकता मार्क्सवाद के सामाजिक विचार को ही ललकारता है। यानी, उत्तर-आधुनिकतावाद डॉर्विन और फ्रॉयड के सिद्धांतों को तो अपने चरित-मानस में स्वीकारता है लेकिन मार्क्स के सामाजिक-वरताव के विचारों को मानव व्यवहार के संदर्भ में फालतू बताता है। इसलिए मार्क्सवाद से उत्तर-आधुनिकता का सीधा और प्रयोजनमूलक संघर्ष हमें देखने को मिलता है।

उत्तर-आधुनिकता की प्रवृत्तियों पर ध्यान देने से इसकी कुछ मान्यताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। मुख्य शक्ति स्रोत के रूप में विज्ञान, तकनीक और बाजार की स्वीकृति। मुख्य भाव ईश्वर संबंधी रहस्य उसके भय से मुक्ति के लिए ईश्वर के अस्तित्व या तत्संबंधी विश्वास के सामाजिक निषेध पर जोर नहीं, बल्कि जो लोग ईश्वर और धर्म से उद्भूत मान्यताओं में आस्था रखते हैं उनकी आस्था को और मजबूत करते हुए अपने मनोरंजन और उनके शोषण की अनुकूलता की रचना करना। यहाँ धर्म और बाजार के नवसंश्रय को समझा जा सकता है। नायकत्व से इनकार लेकिन साथ ही बाजार की सुविधा और जरूरत के अनुसार छलनायकों का सृजन और विसर्जन करते हुए मनुष्य के अंदर निहित वीरपूजा के संस्कार को इस्तेमाल के लायक बनाये रखना। समाजवादी राष्ट्रीय-जनतंत्र के बदले मुख्य प्रवृत्ति के रूप में समाज विमुख व्यक्तिवादी बहुराष्ट्रीय पूँजीवादी-धनतंत्र की ओर आकृष्ट करने के लिए मनुष्य को निर्बाध भोग की असीम संभावनाओं की कल्पित मरीचिकाओं में फाँसे रखना। भाषा की सीमाओं के कारण संदर्भ-मुक्त पाठ की बहुअर्थवाचकता की संभावनाओं का प्रस्ताव कर उसकी अर्थवाचकता को अनिश्चित बनाना। शब्द-क्रीड़ा से विनिर्मित अर्थ और आशय की कुहेलिका के प्रभाव में विचार मात्र को छलिया बनाकर उसकी सामाजिक उपयोगिता, असहमति, और प्रतिरोध क्षमता का हरण करना। अर्थात, विचार में निहित अर्थ के सातत्य और तत्त्व की गंभीरता को विखंडित कर उसके साथ खिलंदड़ व्यवहार करना, आदि उत्तर-आधुनिकता की मुख्य प्रवृत्तियाँ है। विखंडन उत्तर-आधुनिकतावाद की ऐसी प्रवृत्ति है जो मूल रूप से भाषा के प्रति बरताव में प्रकट

होती है। इस विखंडन का स्थूल रूप भाषा में प्रकट हो कर समाज में विकट हो जाता है और सूक्ष्म रूप सामाजिक परिगठन की नाभिकीयता में घुसकर भारी विचलन पैदा करता है। इस विचलन से सामाजिक संबंधों के सारे सूत्र छिन्न-भिन्न हो कर आपस में उलझ जाते हैं।

अपने सामाजिक प्रोग्रामिंग में उत्तर-आधुनिकतावाद उपभोक्ता को आम खाने के लिए उकसाता है और पेड़ गिनने को मूर्खतापूर्ण कवायद बताता है। बाजार को आम तो आम गुठली के भी दाम मिल जाने का तर्क हासिल हो, इसके लिए सचेष्ट बना रहता है। बाजार और भाषा, जो मनुष्य की सामाजिक शक्ति और अस्मिता के मूलाधार हैं, दोनों के अर्थ को जबरे की जरूरत के हवाले कर देने के लक्ष्य से यौगिक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, और समाधि का प्रयोग चित्तवृत्ति के चांचल्य को निरुद्ध करने के लिए नहीं बल्कि उसे अधिक चंचल, उतप्त एवं उच्छ्-शृँखल बनाने के लिए करता है। समाज, व्यक्ति, भाषा, विचार और वस्तु को उसके स्रोत से काट कर देखने का अभ्यासी बनाता है। उकसाता है कि आम खाइये, आम! आम का असली संबंध गाछ से नहीं बेचनेवाले की टोकरी से है! जो मिले उसे भोगिये निर्द्वंद्व होकर! फालतू प्रश्न न कीजिये कि कौन है, क्यों है। जो मिल न सके उसका मन-भोग फंतासी बुनकर और उसमें घुसकर कीजिये। उत्तर-आधुनिकतावाद मनुष्य की स्वाभाविक यथार्थ चेतना को कुंद करने के उद्देश्य से वस्तुजगत को मनोजगत से विस्थापित करने के ठग-विचार का अभासी विकल्प पेश करता है। उत्तर-आधुनिकतावाद सांस्कृतिक और राजनीतिक लोगोसेंट्रिकता का विरोध करता है। शक्ति एवं अवसर की उपलब्धता के वितरण-विकेंद्रन की बात नहीं करता है। शक्ति एवं अवसर की उपलब्धता के वितरण-विकेंद्रन से पूँजी-संचयन की केंद्रिकता पर आघात जो पहुँचता है! उत्तर-आधुनिकतावाद कुछ धनी और विकसित राष्ट्रों को ही नहीं व्यक्तियों और व्यापारिक घरानों को भी लाभान्वित करने के उद्देश्य से यह सारा खेल रचता है। सांगठनिक मार्क्सवाद की सांस्कृतिक और राजनीतिक बोध-वृत्ति के मूल में जनतांत्रिक-केंद्रिकता की अवधारणा सक्रिय रहती है। जाहिर है, संगठित मार्क्सवाद से इसका सीधा और प्रयोजनमूलक विरोध है। यही कारण है कि समाजवादी विचारधारा के राजनीतिक ढाँचों के पतन के बाद इसमें काफी उत्साह देखने को मिलता है।

जो हो, तकनीकी अग्रगति और विश्व व्यापार नीति के नये परिप्रेक्ष्य में एक नये युग या कालखंड का श्रीगणेश तो हो ही गया है। आज साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में जब उत्तर आधुनिकता का आग्रह बढ़ रहा है तब इस पर साहित्य और इसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य के सवालों से निरंतर जूझनेवालों को भी विचार करना चाहिए। यह भी ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि उत्तर-आधुनिकता और आधुनिकता को जिस तरह आमने-सामने कर दिया जाता है वह विचार की सही पद्धति नहीं है। उत्तर आधुनिकता और आधुनिकता को एक दूसरे का व्याघाती बना कर प्रस्तुत किया जाना विचार करने की सही शैली नहीं हो सकती। इसके लिए उत्तर आधुनिकता के प्रति समर्पित विद्वानों के तेवर के तो अपने प्रच्छन्न निहितार्थ हैं। आधुनिकता के पैरोकारों को समझना ही होगा कि उत्तर-आधुनिकतावाद वह भूत है जो

सरसों के खेत में ही अपना तंबू तानना चाहता है। उत्तर-आधुनिकता में सामाजिक शुभ को वैयक्तिक सुख से विस्थापित करने का तीव्र आग्रह होता है। वस्तुत:, जीवन बहुत ही व्यापकता में विचरता और संभव होता है। विचार के किसी एक पक्ष से उसका काम नहीं चल पाता। जीवन को चाहिए हर संभव विस्तार, हर संभव अवकाश, हर संभव जमीन और आकाश। जीवन को चाहिए पसरने और फैलने की पूरी गुंजाइश। सुख और दुख की अनेक संकल्पनाएँ और परिभाषाएँ हो सकती हैं। क्योंकि सुख और दुख की अवधारणा का एक पक्ष अंतत: आत्मनिष्ठ भी होता ही है। अवधारणा की इस आत्मनिष्ठता के पीछे वस्तुनिष्ठ कारक सक्रिय होते हैं, लेकिन इन वस्तुनिष्ठ कारकों से उत्पन्न एहसास को तो आत्मनिष्ठ मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। इस आत्मनिष्ठता का सूत्र पकड़ उत्तर-आधुनिकता मन में प्रवेश करती है। आदमी जितना सुखाकांक्षी होता जायेगा उतना आत्मनिष्ठ होता जायेगा। जितना आत्मनिष्ठ होता जायेगा उतना समाज विमुख और व्यक्तिवादी एवं आत्मकेंद्रित होता जायेगा।

उत्तर-आधुनिकता में उत्तर वस्तुत: आधुनिकता का विशेषण ही है। विशेषण अपने विशेष्य की व्याप्ति को कम अवश्य करता है, कई बार उसे विकृत भी करता है, लेकिन उसका पूर्ण निषेध कभी नहीं करता है। जीवन का नैसर्गिक परिप्रेक्ष्य निर्विशिष्ट संदर्भ में ही खिलता है। विशेषण उसमें रंग का काम करते हैं। लेकिन कोई रंग वस्तु-मुक्त नहीं रह सकता! वस्तु-मुक्त रंग के प्रत्यक्षीकरण की प्रतीति करवाने के लिए प्रत्ययवाद के जंग खाये औजारों को फिर से चमका कर प्रयोग करने की ओर भी उत्तर-आधुनिकता कभी-कभी प्रच्छन्न रूप से प्रवृत्त पायी जाती है। ध्यान दिया जाना चाहिए कि जीवन में ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सिर्फ एक ही प्रकार का विचार उसे सर्वांशत: परिचालित करे। जिस प्रकार जमीन की प्रकृति के अनुसार नदी की जलधारा में बदलाव आया करता है, उसी प्रकार जीवन-स्थितियों के अनुसार मनुष्य के विचार की दिशा, गति, व्याप्ति, गहराई आदि में भी बदलाव आता है। दरअसल यह धारा का गुण है, धारा चाहे नदी की हो या विचार की। जीवन में मुड़कर पीछे देखने और एक-आध कदम पीछे हटने की भी गुंजाइश तो होती है लेकिन पीछे की ओर लौट चलने की छूट नहीं होती है। जीवन के पुनर्लेखन का कोई अवसर नहीं होता है। इतिहास की धारा का प्रवाह एकतरफा ही होता है। जीवन-स्थितियों की रचना में मनुष्य की सचेतनता पर ध्यान देने से यह तथ्य सहज ही स्पष्ट होता है कि सभ्यता के उदय के साथ ही समता की मूल मानवीय आकांक्षा के समानांतर जीवन-स्थितियों में विषमता भी अपना प्रभावी अस्तित्व ग्रहण करती है। यह विषमता विभिन्न आधारों पर बने सामाजिक प्रवर्गों के परिप्रेक्ष्य में भी समझी जा सकती है और एक ही व्यक्ति के जीवन के विभिन्न चरणों के परिप्रेक्ष्य से भी समझी जा सकती है। इन विषमताओं के बदलते संदर्भ में वैचारिक परिप्रेक्ष्य भी बदलते हैं। विचारधारा कोई हो उसकी अपनी सामाजिक संलग्नता और परिणति अवश्य होती है। इसी संलग्नता और परिणति की संभावनाओं का प्राक्कलन उस विचारधारा की सामाजिक स्वीकार्यता की वैधता रचता है। यह मान कर चलना कि जीवन में किसी एक विचारधारा का अस्तित्व अब नहीं है या कोई दूसरी विचारधारा उसे पूर्णत: विस्थापित कर

देती है या कर देगी, किसी भी प्रकार से ठीक नहीं है। भारतीय दर्शन की सारी पद्धतियाँ साथ-साथ जारी रहकर भारतीय मानस में विविधता के लिए अवकाश (स्पेस) रचती हैं। तब यह अवश्य है कि एक एक समय में समाज के संचालक प्रभु-वर्ग में किसी एक विचारधारा के प्रति आग्रह बढ़ जाता है। इसलिए यह प्रतीत होने लगता है कि वही विचारधारा समाज को नियमित और संचालित करनेवाली मुख्य, कई बार एकमात्र, अनिवार्य शक्ति है। यह प्रतीति ही होती है, यथार्थ नहीं।

आर्थिक संवृद्धि के सिद्धांत और मेरिटोक्रेसी के सिद्धांत को परस्पर जोड़े बिना उत्तर आधुनिकता के संदर्भों को ठीक से समझ पाना मुश्किल है। कहना चाहिए कि आधुनिकता के ही एक प्रकार विशेष को उत्तर-आधुनिकता अधिक प्रासंगिक मानकर चलती है। आधुनिकता के इस प्रकार विशेष को बार-बार जानना होगा और उत्तर-औद्योगिक समाज की प्रवृत्तियों से उसे जोड़ कर देखना होगा, तभी हम उत्तर-आधुनिकता के सही संदर्भ को पकड़ पायेंगे। उत्तर आधुनिकता का सिद्धांत (सिद्धांत कहने के लिए खेद है!) जब अपना पैर जमाना शुरू कर रहा था उसी समय अमरीकी समाजशास्त्री डब्लू. रोस्टोव अपने "गैर कम्युनिष्ट घोषणापत्र" (1960) में "आर्थिक संवृद्धि और मंजिलों का सिद्धांत" प्रतिपादित कर रहे थे। यह सिद्धांत सामाजिक विकास के परिप्रेक्ष्य से आर्थिक संवृद्धि की पाँच मंजिलों की स्थापना करता है। परंपरागत समाज: पूँजीवादी समाज के पहले के सारे समाज। संक्रमणकालीन समाज: मोटे तौर पर, प्राक्इजारेदार पूँजीवाद में संक्रमण से मेल खाता समाज। अग्रगति की अवधि का समाज: औद्योगिक विकास एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया का समाज। परिपक्वता की अवधि का समाज: औद्योगिक विकास एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया के पूर्ण होने पर बननेवाला समाज। जन उपभोग के उच्च स्तर का समाज: जिसे उनके अनुसार सिर्फ अमरीका हासिल कर सका है। बाद में, इसमें जीवन की गुणवत्ता का सिद्धांत जोड़ा गया, जिसके अनुसार विश्व पर्यावरण, विश्व सरकार आदि की अवधारणा सामने रखी गई। तथ्य है कि ब्युरोक्रेसी और टेक्नोक्रेसी अपनी कुशलता और क्षमता से जानतांत्रिक सत्ता-केंद्रों को पूरी तरह विस्थापित करने में सफल नहीं हो पाती है लेकिन उसके प्रयोगात्मक पक्ष पर अपना अधिकार कर उसे अनुकूलित अवश्य कर लेती है। उधर अंग्रेज समाज शास्त्री एम.यंग ने 1958 में "मेरिटोक्रेसी का उद्भव, 1870-2033" में "मेरिटोक्रेसी" पद का प्रयोग किया। "विचारधारा का अंत " (1960) बतानेवाले डैनियल बेल की पुस्तक "उद्योगोत्तर समाज का उदय " (1973) के प्रकाशन के बाद मेरिटोक्रेसी की अवधारणा समाज के शासन के नये सिद्धांत के रूप में सामने आई। इस सिद्धांत की मूल आकंक्षा ब्युरोक्रेसी और टेक्नोक्रेसी के स्थान पर मेरिटोक्रेसी की स्थापना करना है। मेरिटोक्रेसी योग्यता के आधार पर चयनित व्यक्तियों के शासन की पैरवी करती है। योग्यता विभिन्न हितग्राहक समूहों के बीच हित साधन के अवश्यंभावी टकराव की स्थिति में, अंतत: चुनी हुई जनतांत्रिक व्यवस्था की जगह, बहुराष्ट्रीय आवारा पूँजी के मनोरथ की अनुकूलता के सृजन की वैधता रचने की क्षमता से

प्रमाणित होती है। मेरिट यानी छलना बुद्धि! मामला संस्थागत भ्रष्टाचार का हो या फिर राजकोषीय लूट का ही कोई मामला क्यों न हो, सीधी-सी बात समझ में आनी चाहिए, कि जो मेरिटवान होते हैं वे लूट लेते हैं और जो मेरिटहीन होते हैं वे लुट जाते हैं।

सामाजिक संरचना, प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं के संदर्भ में डॉ. श्यामाचरण दुबे के अध्ययन एवं निष्कर्षों को यहाँ आधार माना जा सकता है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि अमरीकी समाजशास्त्री डेविड रिजमेन ने समाजों को उनकी प्रवृत्तियों के आधारों पर, तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। पहला है--- परंपरा-प्रेरित समाज, यह पूर्वजों की बनाई राह पर चलनेवाला समाज होता है। इस प्रकार के समाजों में नवाचार कम होते हैं, नई माँगों का दायरा भी कम होता है। दूसरा है--- अंत:प्रेरणा द्वारा प्रेरित समाज, यह समाज व्यक्ति के आंतरिक विवेक को निर्णय का आधार माननेवाला होता है। ऐसे समाज के सदस्य संपूर्ण परंपरा को न तो पूजनीय मानते हैं और न सारे नवाचारों को ही स्वीकार्य मानते हैं। ये परंपरा और नवाचार दोनों को अपने विवेक से परखते हैं। और तीसरा है--- बाह्य-प्रेरित समाज, यह समाज बाह्य प्रभाव को बिना किसी प्रकार की पड़ताल-परख के बड़ी सरलता से ग्रहण कर लेनेवाला होता है। ऐसे समाज में परंपरा की शक्ति क्षीण हो जाती है और विवेक को विकसित तथा प्रभावी होने का मौका नहीं मिलता है। व्यक्ति को उपभोक्ता बनाने और बनाये रखने के लिए ऐसे समाज के सदस्य सबसे अधिक आसान शिकार होते हैं। रंगीन मनमोहक विज्ञापनों की बौछार उन्हें संज्ञा शून्य बना देती है। रिझाने की यह प्रक्रिया बच्चों को भी नहीं छोड़ती है। मनोविज्ञान और समाजविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन से ऐसा संचार-तंत्र विकसित किया जाता है, जिससे व्यक्ति की रुचियाँ उपभोक्तावाद की ओर बचपन से ही मोड़ लेने लगती है। यह समाज उपभोग में ही सुख का सार खोजने लगता है। यह उपभोक्तावाद व्यक्ति को सामाजिक संतोष की कोई काल्पनिक सीमा रेखा भी नहीं तय करने देता है। कहने की जरूरत नहीं है कि किसी समाज और उसके सदस्यों में प्रसंगानुसार ये तीनों प्रवृत्तियाँ एक साथ सक्रिय रहती हैं, लेकिन इनमें से कोई एक प्रवृत्ति निर्णायक प्रवृत्ति के रूप में सक्रिय रहती है। इस निर्णायक प्रवृत्ति की अभिलाक्षणिकता के आधार पर ही उसके चरित को समझने का प्रयास किया जा सकता है। जी-8 के देशों के लिए यह काल-खंड उत्तर-औद्योगिक काल-खंड है। लेकिन हमारे लिए यह काल-खंड उत्तर-औद्योगिक काल-खंड नहीं, बल्कि अधिक-से-अधिक औद्योगिक दृष्टि से अग्रगति का काल-खंड है। मेरिटोक्रेसी की मूल आकांक्षा और बाजारवाद की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अगर डब्लू. रोस्टोव के आर्थिक संवृद्धि और मंजिलों का सिद्धांत भी देखें तो हमारा जातीय समाज, चाहे वह भारतीय हो या फिर हिंदी ही, अधिक-से-अधिक बाह्य-प्रेरित और अग्रगति की अवधि का समाज अर्थात औद्योगिक विकास एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया का समाज ही ठहरता है। इसमें न उस मेरिटोक्रेसी के लिए जगह बनती है जो अंतत: राजनीतिक सत्ता को नैगमिक सत्ता से विस्थापित करने की आकंक्षा रखती है और न खुले बाजारवाद के लिए। फिर उत्तर आधुनिकतावाद के अमोल प्रस्ताव हमारे किस काम के हो सकते हैं!

सामाजिक विकास की अवधारणाओं को मानवीय आवश्यकताओं और अनुपूरक मूल्यों से जोड़कर भी समझा जा सकता है। मानवीय आवश्यकताओं का वर्गीकरण छ: श्रेणियों में किया जाता है। इनमें से प्रत्येक की पूर्त्ति के लिए सामाजिक आधार और अवसर अपेक्षित है। पहले वर्ग में भौतिक/ जैविक अस्तित्व को बनाये रखने की आवश्यकता आती है, जैसे पोषण, आश्रय, वस्त्र, रोजगार, निवारक और निरोगकारी औषधियाँ, सुरक्षा आदि। दूसरे वर्ग में सामाजिक आवश्यकताएँ आती हैं, जैसे समुदाय का निर्माण, सामुदायिक भावना का विकास, सामाजिक सहमति, संघर्ष का नियंत्रण, दंड-पुरस्कार के प्रावधान आदि। तीसरा वर्ग है सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का, जैसे व्यक्तिगत स्वाधीनता, आत्मसम्मान, अवकाश और उसके रचनात्मक उपयोग एवं उन्नति तथा उपलब्धि के लिए पर्याप्त अवसर, सांस्कृतिक और धार्मिक सहिष्णुता के संदर्भों का। चौथे वर्ग में समाज कल्याण से जुड़ी आवश्यकताएँ आती हैं, जैसे कमजोर, विकलांग, वंचित, दलित आदि की अवश्यकताएँ। पाँचवें वर्ग में अनुकूलन से संबंधित आवश्यकताएँ आती हैं, जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक पर्यावरण में आ रहे बदलाव के संदर्भ में मानसिक रूप से सन्नद्ध बनने या बने रहने के लिए किये जानेवाले उपाय से संबंधित आवश्यकताएँ। छठे वर्ग में, आनेवाले समय के स्वभाव को समझते हुए वैज्ञानिक विकास और सामाजिक प्रबंध से जुड़ी आवश्यकताएँ आती हैं। कहने की जरूरत नहीं कि सामाजिक विकास और उसकी उपरोक्त अनुपूरक आवश्यकताएँ एक के पूरी होने की प्रतीक्षा में, स्थगन की अवस्था में नहीं रह सकतीं। इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए उपलब्ध सामाजिक संसाधनों एवं अवसरों के समायोजन एवं समन्वय की आवश्यकता होती है। जिस समाज के पास जितने कम संसाधन एवं अवसर होते हैं, उस समाज में इस समायोजन एवं समन्वय के लिए उतना ही तीव्र और त्रासद बाह्य-आंतरिक संघर्ष होता है। यहाँ एक बहुत ही प्रभावी और दीर्घ-स्थायी सामाजिक संतुलन की जरूरत होती है। भारत जैसे अनेकता में एकता की स्थिति और गति वाले देश में इस सामाजिक संतुलन का महत्त्व और बढ़ जाता है। उत्तर-आधुनिकता को ऐसे संतुलन की कोई परवाह भी नहीं होती, बल्कि कहना चाहिए कि उत्तर-आधुनिकता इस संतुलन बिंदु में भारी विचलन पैदा करने में ही अधिक दिलचस्पी रखती है। उत्तर-आधुनिकता उत्तर-औद्योगिक समाज के अनुकूल होती हो तो हो, हमारे जातीय संदर्भ में यह बिल्कुल उपयुक्त नहीं ठहरती है। हमारे जातीय संदर्भ में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को उत्तर आधुनिकतावाद की प्रच्छन्न आकांक्षा के अनुसार व्यक्तिगत स्पर्धा के भरोसे खुला नहीं छोड़ा जा सकता, हमारे लिए विकास की समेकित सामाजिकता पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बड़ी गंभीरता से जनता की चित्तवृत्ति के संदर्भ में साहित्य के स्वरूप पर विचार किया है। उन्होंने साहित्य की प्रवृत्ति को जनता की चित्तवृत्ति से जोड़कर देखने की जरूरत की ओर ध्यान दिलाया था। यह महत्त्वपूर्ण है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के

अनुसार होती है। इसी के साथ औद्योगिक, बाजार-व्यवस्था एवं आर्थिक परिस्थिति को भी जोड़कर विचार किया जा सके तो जनता की चित्तवृत्ति की बनावट और बुनावट एवं उसकी जातीय चेतना का परिप्रेक्ष्य अधिक पूर्णता से स्पष्ट हो सकेगा। हिंदी क्षेत्र की आर्थिक गतिविधि का मुख्य आधार कृषि ही है। अपनी खनिज संपदा के कारण औद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रथम चरण में हिंदी क्षेत्र का विकास संतोषजनक था। लेकिन विकास में क्षेत्रीय संतुलन सुनिश्चित करने के नाम पर उसमें एक पेंच डाल दिया गया। इस पेंच की ओर हमारा ध्यान कम जाता है। इन खनिजों पर आधारित प्रतिष्ठान या उपक्रम मुख्यत: संघ सरकार के सार्वजनिक क्षेत्र में आते हैं। विकास में क्षेत्रीय संतुलन बनाये रखने के उद्देश्य से टेलीस्कोपिक प्रणाली से उत्पादों की कीमत तय की जाती है। साथ ही राज्य को प्राप्त होनेवाले राजस्व की दर भी कम तय होती है। राजस्व की यह राशि प्राप्त करने के लिए भी राज्य सरकारों को कई बार केंद्र से टकराव मोल लेना पड़ जाता है। हिंदी क्षेत्र में कोई बड़ा बाजार या व्यापारिक केंद्र बन नहीं पाया। समुद्री तट के अभाव और मुख्य रूप से औपनिवेशिक अवशेष पर ही अर्थ-व्यवस्था को विकसित किये जाने की रणनीति से उत्पन्न स्थिति में हिंदी प्रदेशों का जो यत्किंचित औद्योगिक विकास हुआ, उसका भी पूरा लाभ इस क्षेत्र के सामाज-आर्थिक आधार को नहीं मिला। मुख्यत: कृषि पर आधारित होने और लगातार बाढ़-सूखा एवं बढ़ती आबादी की मार, निरक्षरता, निरक्षराचार एवं भ्रष्टाचार से संत्रस्त होने के कारण इस क्षेत्र की आर्थिक गतिविधि को गहरा आघात लगता रहा है। विकास की राह पर चलने और आर्थिक विकास की नई मंजिलों को प्राप्त करने में यह क्षेत्र बुरी तरह विफल रहा है। इस क्षेत्र को भारत में ही अब गोबर पट्टी, बिमारु, और न जाने किस-किस संबोधन से पुकारा जाता है। इस क्षेत्र के रहनेवालों को भारत में ही उनके प्रवास के स्थानों पर न जाने किस-किस तरह के अपमान और जिल्लत का सामना करना पड़ता है। अब तो पूरे भारत के पिछड़ेपन का दोषी इन हिंदी प्रदेशों को ही बताया जा रहा है। बिहार सिंड्रॉम का मूल आशय अपनी अर्थवाचकता में फैल कर दरअसल हिंदी सिंड्रॉम को ही ध्वनित करता है। कभी जनसंख्या के आधार पर संसदीय आसनों में बढ़ोत्तरी नहीं किये जाने के तर्क पर, तो कभी विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति के आधार पर केंद्रीय अनुदान/ सहायता का कोटा निर्धारित करने के सिद्धांत के आधार पर इस क्षेत्र के अपवंचन की स्थितियाँ बनने के उदाहरण भी सामने आ रहे हैं। कहना न होगा कि आज दुनिया की, और भारत की भी बहुत बड़ी आबादी, उसमें भी हिंदी जाति और समाज, इस बाह्य-प्रेरित समाज का ही उदाहरण बनकर रह गया है। एक ऐसा समाज जो अपनी परंपरा को भी अपने विवेक प्रदत्त निष्कर्षों एवं अंत:करण की पे्ररणा से नहीं, बल्कि किसी बाह्य-शक्ति की अभिप्रेरणा से ही समझता, पकड़ता और ग्रहण करता है।

भौगोलिक रूप से समृद्ध, ऐतिहासिक रूप से घटना प्रधान, सांस्कृतिक रूप से सघन और राजनीतिक रूप से अधिक मुखर होने के बावजूद आज हिंदी जाति की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं है। भारत के

स्वतंत्रता संग्राम में बढ़-चढ़ कर भागीदारी करने के बाद भी उस संग्राम की राजनीतिक चेतना को अपनी सांस्कृतिक ऊर्जा और सामाजिक-पुनर्निर्माण के स्वप्न के साथ जोड़ने और उसे जिलाये रखने एवं नई सामाजिक गतिशीलता के वेगबर्द्धन को समझने के प्रति समर्पण में यह जाति और समाज सफल नहीं हो पाया। स्वतंत्र भारत में भी, आपात काल की तानाशाही का जोरदार ढंग से राजनीतिक मुकाबला करने के बावजूद संपूर्णक्रांति के सामाजिक स्वप्न का जो बुरा हाल हुआ, यह किसी से छिपा नहीं है। आज भी हिंदी जाति और समाज का छंद जनतांत्रिक चेतना से अधिक वर्णतांत्रिक चेतना द्वारा ही विनिर्मित हो रहा है। ठाकुर का कुआँ, सद्गति, पूस की रात और कफन आज भी सामाजिक सच का आइना बने हुए हैं। राय साहब , होरी , गोबर और सोना जस के तस हैं। बलदेव और महंत वैसे के वैसे हैं। इन परिस्थतियों को बदलने के लिए कोई राजनीतिक सक्रियता नहीं है, बल्कि जो राजनीतिक-सांस्कृतिक सक्रियता पिछले दशक तक भी थी वह सामाजिक समर्थन के अभाव में या तो ठप्प हो गई या अपने अंतर्विराधों के कारण भयावह विकृतियों का शिकार बन कर रह गई। सामाजिक संस्तरण और संलयन की सकारात्मक प्रकिया ठप्प है। आर्थिक सुधार के इस हंगामे भरे समय में भूमि सुधार तो दूर, अब सामाजिक सुधार की बात भी नहीं होती। पंचायती व्यवस्था और स्थानीय स्वशासन के राजनीतिक निकाय या तो हैं ही नहीं या फिर जहाँ हैं, वहाँ अपने आकांक्षित प्रभाव और रूप में नहीं हैं। हालत यह है कि मिथिकीय राधा-कृष्ण की लीला भूमि के रूप में विख्यात सांस्कृतिक जमीन पर, साइबर-स्नेह के इस युग में भी प्रेम के अपराध पर किशोर-किशारियों को सरेआम फाँसी तक की सजा दी जाती है। किसी के मन में किसी तरह का सामाजिक अपराधबोध नहीं जगता! दुखद है कि अपराधबोध से मुक्त सामाजिक अपराध की यह कोई एकल घटना नहीं है।

अनुभव बताता है कि जब-जब धर्म या धार्मिकता कमजोर होती है तब-तब सांप्रदायिकता बढ़ती है। सांप्रदायिकता धर्म की हानि से उपजनेवाली समस्या है। सांप्रदायिकता एक ऐसी परजीवी विकृति है, जो अपने धर्म को ही अपना ग्रास बनाती है। दीया के तले अँधेरा होता है इस स्थिति और तर्क के आधार पर दीया को ही बुझा देने के उद्यम में लग जाना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं हो सकती। एक दीया के तले के अँधेरे को दूसरी दीया की रोशनी ही दूर कर सकती है। एक धर्म का आलोक दूसरे धर्म के आलोक को बढ़ाता है। एक धर्म की छत्रछाया में पनपनेवाली सांप्रदायिकता को दूसरे धर्म के दीप्तमान निष्कर्ष दूर कर सकते हैं। इस दूसरे धर्म, अर्थात प्रतिधर्म के जन्म और संस्थापनार्थ ही विभिन्न अवतारों और मसीहाओं के आगमन की सामाजिक आकांक्षा पैदा होती है। लेकिन यहाँ एक बड़ा खतरा है, जिसके प्रति सचेत रहना चाहिए। विभिन्न अवतारों और मसीहाओं के आगमन की सामाजिक आकांक्षा को स्पेंगलर और टायन्बी द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक चक्रों के सिद्धांत से भी जोड़कर देखना चाहिए। सर्वविदित है कि यह सिद्धांत अंतत: अपने व्यावहारिक परिणाम में फासिज्म के लिए जमीन तैयार करनेवाला सिद्धांत बना। इस समय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आकांक्षा रखनेवालों की इतिहास संबंधी मान्यताओं, व्यावहारिकताओं और उनके फासीवादी रुझानों में इस सिद्धांत की अनुगूँज पढ़ी जा सकती है। उत्तर-आधुनिकता

की अंतवादी घोषणाओं में भी अंतर्निहित इस सांस्कृतिक चक्र के नये प्रारंभ की प्रचेष्टाओं का पाठ तैयार किया जा सकता है।

जातीय संदर्भ में, न तो सांस्कृतिक-राजनैतिक-सामाजिक चेतना के नवप्रवाह का संभरण ही किया जा सका और न उसके सातत्य को ही बनाये रखा जा सका। विभाजन की त्रासदी और घृणा के प्रपंच में फँसा पूरा समाज लहुलुहान होकर छटपटाता रहा और हम इसे, सामान्यत: कानून और व्यवस्था की ही समस्या मान कर निश्चिंत बने रहे। हिंदी समाज में सांप्रदायिकता और धर्म के बीच के संबंधों पर बहुत गहराई से बात नहीं हो सकी। हम न मानसिक उथल-पुथल मचानेवाले किसी तीव्र बौद्धिक विमर्श की शुरूआत कर सके और न हिंदी समाज के अंतर्मन में सक्रिय तीव्र बवंडर को अपनी संवेदनात्मक-बौद्धिक उपस्थिति के आश्वासन का एहसास करा सके। स्वीकार करना चाहिए कि हमारी बौद्धिक कायरता ने हमें इस समस्या के संदर्भ में आसान रास्ते पर जाने के लिए प्रेरित किया। इसीका नतीजा है कि हम संस्कृति तथा प्रगति की पतली गली से निकलने के लोभ में आज असंगतियों की इस अंधी गली में आ फँसे हैं। जिस हिंदी समाज ने बुद्ध और महावीर को उत्पन्न किया, जिस समाज ने अशोक और अकबर जैसे सम्राट की राजनीतिक क्षमता को सर्वाधिक निकटता से देखा हो, जिस समाज में कबीर, नानक, मीरा, रैदास, तुलसी और रसखान की सकरात्मक सांस्कृतिक उपस्थिति घटित हुई हो, जिस समाज ने धार्मिक कूपमंडूकता, कर्मकांड एवं सांप्रदायिक विद्वेष के खिलाफ भक्तिकाल जैसे समाज-धार्मिक आंदोलन का नेतृत्व किया हो और हाल-फिलहाल तक जिस समाज में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध हुए हों उस समाज को आज की जैसी सांप्रदायिकता ओर जातिवादी-अपवंचन की समस्याओं से इस हद तक जूझना पड़े, इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है! स्वतंत्रता संग्राम में जनता की चित्तवृत्ति के अंदर जो द्वंद्व बने थे, उसे नवपरिप्रेक्ष्य प्रदान करने, उससे संवेदनात्मक स्तर पर जुड़ने के बजाय प्रमादवश, हमने खुद की परिभाषित मनोगत प्रगतिशीलता के दबाव में कहीं-न-कहीं अपेक्षा और उससे भी अधिक जिद यह रखी कि हिंदी जनता की चित्तवृत्ति ही हिंदी साहित्य की संवेदना से जुड़े! परिणामत: हम सुर्खरू बने रहे, लेकिन हमारे विचारों में लगे सुर्खाब के पर को जनता की चित्तवृत्ति ने किसी प्रकार मान्य नहीं किया। जब साहित्य और समाज की संवेदना बँटी हो तब यह सोचकर निश्चिंत बैठ रहना कि पाठक का दुलार देर तक कायम रहेगा, एक तरह का भोलापन ही था। इस तथ्य को मानने के लिए हम आज भी पूरी तरह तैयार नहीं दिखते हैं कि बिंब में परिवर्त्तन का मनोरथ प्रतिबिंब में परिवर्त्तन के परिघटन से कभी पूरा नही होता है। हमारी बौद्धिक तैयारी ऐसी नहीं दीखती है कि हम परंपरा से प्राप्त धार्मिक प्रतीकों के बाजार एवं कुत्सित सत्ता की राजनीति की मनुष्य-विरोधी प्रवृत्ति के द्वारा किये जा रहे इस्तेमाल के विरुद्ध अपने अंतर्विवेक की प्रेरणा से किसी मानसिक अंतर्द्वंद्व और आलोड़न की सृष्टि कर सकें। शिकारियों को विश्वासी या अंधविश्वासी से क्या मतलब! उन्हें तो बस शिकार चाहिए! शिकारियों के जाल में हमारा समय और समाज फँसा हुआ है।

इन शिकारियों के जाल के धागों में उत्तर-आधुनिकतावाद के भी कुछ सूत्रों का इस्तेमाल साफ-साफ पहचाना जा सकता है। सबसे अधिक खतरनाक बात यह है कि हमें दाना तो दिख रहा है मगर जाल नहीं दिख रहा है। वैसे, जीवन के लिए कोई विचार पूर्णत: फालतू नहीं होता। उसका कोई-न-कोई अंश उपयोग में लाया जा सकता है। उत्तर-आधुनिकता का यह मंतव्य ठीक है कि सब का सच/ विचार एक नहीं हो सकता है। उत्तर-आधुनिकतावाद अपनी समग्रता में चाहे जिसके लिए उपयोगी हो हमारे लिए बिल्कुल उपयोगी नहीं है। हमारे लिए आज भी पुनर्जागरण/ नवजागरण का एजंडा, सक्रिय सामाजिक विवेक, सच्ची लोकतांत्रिक चेतना का स्वत्व एवं सत्व और आधुनिकता की परियोजना का बचा हुआ पाठ ही महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। सामाजिक स्तर पर इन्हें अर्जित कर पाना एक बड़ी चुनौती है। इस कार्यभार को पूरा करने और इस चुनौती का सामना करने के लिए उत्तर-आधुनिकता के कुछ उपकरणों का इस्तेमाल किया जाना अगर संभव हो सके तो यही हमारे लिए इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता और सार्थकता हो सकती है।

भारत के विश्वविद्यालयों में ज्योतिष की वैज्ञानिक शिक्षा दी जाने की बात उठाई गई! भोगवाद को भाग्यवाद का सहारा चाहिए। भाग्यवाद को भी भोगवाद का सहारा चाहिए। दोनों एक दूसरे को मजबूत करते हैं। दोनों को जो चाहिए छप्पर फाड़ के चाहिए और अकेले के लिए चाहिए, बिल्कुल इस्क्लुसिवली! दोनों संघर्ष भीरु हैं। मार्क्सवाद संघर्ष की बात करता है, अप्रासंगिक है! बाजार बिना संघर्ष के एक खरीदो एक मुफ्त ले जाओ का सुअवसर देता है, प्रासंगिक है। उत्तर-आधुनिकतावाद ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक और वैज्ञानिक भौतिकवाद की जगह इतिहास मुक्त निर्द्वंद्व वैज्ञानिक भाग्यवाद और भोगवाद को अपना मौन-मुखर समर्थन देता है। क्या महान दृश्य है! संक्षेप में, इन परिस्थितियों में फँसी जनता की चित्तवृत्ति को ध्यान में रखकर उत्तर-आधुनिकता की प्रासंगिकता को समझने की कोशिश की जाये तो हो सकता है कि उसके कुछ औजार और विचार हमारे भी काम के लायक ठहरें। लेकिन आज भी हिंदी जाति के सामने सबसे बड़ा काम जीवन शैली के रूप में आलोचनात्मक विवेक को अपनाने और सामाजिक एवं वैयक्तिक अंतर्विवेक की सापेक्षता में सामाजिक संगति और सहमति के अधिकाधिक अवसर हासिल करने का है, सबसे बड़ी चुनौती आधुनिकता के लाभ को पाने की ही है। हमारे लिए अपने विवेक से अपनी परंपरा के जीवंत एवं प्रेरक पक्षों की पहचान कर नई आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें पुनर्संयोजित करने के साथ-साथ सच्ची सामंजस्यकारी बहुजन हिताय जनतांत्रिक जीवन पद्धति के संपोषक नवाचारों के लिए जगह बनाने और बाह्य-प्रभाव के अमंगलकारी तत्त्वों के जीवन पद्धति में प्रभाव, प्रवेश एवं समावेश से बचने के कारगर उपाय ढूढ़ने के दायित्व को समझने का समय है। उत्तर-आधुनिकतावाद जिस उत्तर-औद्योगिक, उत्तर-लोकतांत्रिक समाज के उच्चतर आर्थिक स्तर के सदस्यों के अनुकूल ठहरता है उनकी संख्या पूरी दुनिया में थोड़ी है, भारतीय और हिंदी जातीय संदर्भों में तो नगण्य ही है। इसलिए हमारे जातीय प्रसंग में उत्तर-आधुनिकता की समग्रता और मूल-आकांक्षा एक अमान्य बौद्धिक प्रस्ताव भर है।

जिस उत्तर-आधुनिकतावाद के वित्त-राग की अनर्थवाही प्रभु-पालकी में नब्बे प्रतिशत से अधिक लोगों के हित कुछ न हो बल्कि जिस में इनके संहार का सामान ही लदा हो उसे ढोये चले जाने की अपेक्षा भी इन्हीं से! क्या हमारे लिए यह संभव होगा? होना नहीं चाहिए। नागार्जुन से कुंवर नारयण तक हमें सावधान करते आ रहे हैं कि हम से चाल की जा रही है, अब तो यह खुला भेद है कि अशर्फी के खेल में हिंदी के होरी के काँधे धरी यह पालकी है, असल में, ला ला अशर्फीलाल की! न, अब न ढोएँगे हम प्रभु-पालकी, न बोलेंगे जय किसी बाँकेलाल की!